मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

ISSN 0974-0066

Platinum Edition

(अंक-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018)

संरक्षक

प्रो. राघवेन्द्र पी. तिवारी

कुलपति

प्रधान सम्पादक

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

सम्पादक

प्रो. निवेदिता मैत्रा

डॉ. आशुतोष कुमार मिश्र

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. छबिल कुमार मेहेर

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (मध्यप्रदेश) - 470003

दूरभाष : (07582) 264455

ई-मेल : mādhyābhārti.2016@gmāil.com

आलोचना : प्रकृति एवं स्वरूप

भवतोष इंद्र गुरु

आलोचना मूलतः मनुष्यनिष्ठ अनुभव की एक उच्चतर व्याख्या है एवं कला के संदर्भ में हम यह कह सकते हैं कि आलोचना अतिविशिष्ट अनुभव की एक निरपेक्ष व्याख्या है, कला का संस्कार सृजन से है तथा सृजन की प्रकृति आत्मिक, दैहिक तथा भौतिक निरंतरता से जुड़ी होती है। कवि अपनी भावनाओं को विचार के रूप में यथार्थ की दृष्टि प्रदान करने कोशिश करता है एवं आदर्श परिस्थितियों में सफल भी हो जाता है। वास्तविक काव्य कविगत उद्‌बोधन तथा वस्तुगत संचयन के बीच तादाम्य की सहजता को ही दिखा सकने की नैतिक परिलब्धि को प्रस्तुत कर सकता है। इस सन्दर्भ में आलोचना का कार्य काल की विकिर्णता को 'सत्य एवं निष्ठा' के दायरे में बाँधना हो जाता है। अनुभव का सत्य, उत्साह का मापदण्ड एवं उत्साहित होने की प्रवृत्ति, प्रकृति को श्रेष्ठता प्रदान करने की एक आंतरिक अवस्था है। इस संदर्भ में यह समझना जरूरी है कि श्रेष्ठ अनुभव, संरचना की दृष्टि से देश, काल एवं समाज की सीमाओं से परे है। माना जाता है जब हम अपने आप में सीमित होते है तो विचार प्रकृति प्रदत हो जाता है एवं दूसरी ओर जब अनुभव की निष्ठा वाह्यगत होती है तो विचार पुरुषार्थ के कार्मिक एवं कार्यिक व्यंजनाओं की उद्‌घोषणा करता है। जैसा कि हमने कहा है कि आलोचना एक निरपेक्ष निष्ठा है जो कि मानव व्यवहार तथा काव्य आचरण के संतुलन को स्थापित करने की प्रक्रिया में संलग्न रहती है। इस विचार के पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष दोनों है। पूर्वपक्ष में कला तथा आलोचना के उद्‌भव तथा क्रमिक विकास को एक संस्कार के रूप में परिभाषित एवं परिमार्जित करना आवश्यक है। भारतीय परम्परा में कला की दृष्टि अखण्ड, अनंत, चमत्कार, लोकोत्तर, आश्चर्यजनित एवं ब्रह्मास्वाद-सहोदर मानी जाती है। तदानुसार आलोचना का स्थायी स्वरूप काव्य में अखण्ड चमत्कार, आश्चर्य, सत्व, लोकोत्तर तथा ब्रह्मास्वाद की वास्तविक स्थिति तथा पृष्ठभूमि का समग्र सामयिक सतत् एवं कालनिष्ठ व्याख्या करना है। आलोचना के संदर्भ में व्याख्या परिमार्जन तथा शुद्धिकरण की प्रक्रिया है। काव्य के गर्भ में भावनाओं की विद्रूपता विद्यमान रहती है इस विद्रूपता का आश्रय अवचेतन में स्थित उर्ध्वाधर भाव हैं। स्वरूप से यह भाव व्यभिचारी होते है। कवि क्रमबद्ध संश्लेषण के द्वारा इन्हें निष्ठा का एक प्रगाढ़ तथा वैभवशाली परिमान प्रदच्छ करता है।

कमल के अग्र एवम् पृष्ठ में जिस प्रकार जल ज्ञानस्वरूप अंकित रहता है उसी प्रकार आलोचना काव्यतत्व को मीमांसा में संचयित करती है। काव्य में अभिव्यक्ति चेतना की भूमिका के रूप में जागृत होती तथा इसका पल्लवन कर्म के बोध के रूप में होता। काव्य में कर्म ही सतत् है। आलोचना का स्थायी भाव पुरुष है। कर्म में जागृति, प्रेरणा एवं निरन्तरता का परिमाप एक सन्तुलित एवं सुगठित उद्‌देश्य के तहत किया जाता है। इस प्रक्रिया में कार्य-कारण भाव विशेष रूप से बोधगम्यता का सहज आभास उपस्थित करता है। तार्किक

मध्य भारती-75, जुलाई-दिसम्बर, 2018, ISSN 0974-0066, *pp. 74-78*